

# आत्मकर्तृत्व एवं ईश्वर : एक तुलनात्मक दृष्टि

— प्रो.(डॉ.) सोहन राज तातेड

पूर्व कुलपति, सिंघानिया विश्वविद्यालय, राजस्थान

## आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन। इन दोनों में सीधा सम्बन्ध नहीं है। जीव अपनी प्रवृत्तियों से ही पुद्गलों का आकर्षण करता है, इसलिए जब वह शुभ प्रवृत्ति में संलग्न रहता है, तब शुभ पुद्गल आत्मीकृत होते हैं, जो पुण्य कहलाते हैं और जब वह अशुभ प्रवृत्ति में संलग्न रहता है, तब अशुभ पुद्गल आत्मीकृत होते हैं, जो पाप कहलाते हैं। आत्मा प्रमत्त दशा में अपने अशुभ उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम से कर्म प्रायोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर कर्मों से बद्ध हो जाता है। वह अप्रमत्त अवस्था में शुभ उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम से कर्म पुद्गलों का निर्जरण कर मुक्त हो जाता है। आत्मा ही कर्मों का कर्ता है और आत्मा ही कर्मों का विकर्ता है, इसलिए बन्ध और मोक्ष आत्मकर्तृत्व सम्मत है।

वैदिक परम्परा में क्रिया मात्र को कर्म कहा जाता है। यह क्रिया दो प्रकार की होती है—मूर्त और अमूर्त। मूर्त क्रिया वह है जो दृष्टिगत है जैसे किसी वस्तु का निर्माण करना, चलना, उठना, बैठना आदि। अमूर्त क्रिया में मानसिक चिन्तन करना, स्मरण करना, ध्यान करना आदि समाहित हैं। वैदिक परम्परा के अनुसार क्रिया मूर्त हो या अमूर्त जब वह पूर्ण हो जाती है तो उसका हिसाब—किताब, लेखा—जोखा सुरक्षित रखा रहता है। कर्म कब फलोन्मुख होगा? इस बात को सर्वशक्तिमान ईश्वर के अतिरिक्त कोई नहीं जानता। कर्म जड़ होने के कारण न तो स्वयं को जानते हैं और न अपने फल को जानते हैं। किस कर्म का क्या फल होगा? कर्म फल उदय में कब आयेगा इन सारी बातों की जानकारी ईश्वर को रहती है। काल, स्वभाव, नियति यदृच्छा (आकस्मिक घटना), पांचों महाभूत, जीवात्मा आदि कर्मों के कारण नहीं है। काल से लेकर पञ्चमहाभूतों तक बताये हुये जड़ पदार्थों में से कोई भी इसका कारण नहीं है। ये सब जड़ होने के कारण चेतन के अधीन हैं। जड़ वस्तुओं के मेल से कोई नयी चीज उत्पन्न होती हो ऐसी बात भी नहीं है। अतः चेतन सर्वज्ञतत्त्व ही इसका नियामक है। उपनिषदों के अनुसार आत्मा अमूर्त है। अपने कर्मों के कारण जब यह शरीरावच्छिन्न होता है, तब सप्तदसावयवक सूक्ष्म शरीर का अवभासक होकर यह कर्म करता है।

कर्मानुसार जन्म और जन्म से कर्म करने की जीवात्मा की अनादि परम्परा है। बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों एवं आचरण से अपना भविष्य बनाता है। जो जैसा आचरण करता है, वह वैसा ही फल पाता है। अच्छे कर्मों वाला अच्छा जन्म पायेगा, और दुष्कर्मों वाला बुरा जन्म पायेगा। पुण्य कर्मों से पुण्य और दुष्कर्मों से पाप होता है। कर्म करने में जीव पूर्ण स्वतन्त्र है, किन्तु अल्पज्ञ और अल्प शक्तिमान होने के कारण उसे अपने कर्मों के फल का ज्ञान नहीं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि शरीर रूपी वृक्ष पर ईश्वर और जीव ये दोनों सदा साथ रहने वाले दो मित्र पक्षी हैं। इनमें से जीवात्मारूप एक पक्षी सुख—दुःख का अनुभव करता हुआ कर्मफल को भोगता है। दूसरा ईश्वर रूप पक्षी इन फलों का उपभोग नहीं करता, केवल उनका साक्षी बना रहता है। अर्थात् जीवात्मा ही शरीर से सम्बन्धित होकर मोहमायावश कर्म करता है और कर्म फल का अनुभव करता है। ईश्वर साक्षी द्रष्टा है। उपनिषदों में जीव का कर्तृत्व और फल भोक्तृत्व दोनों बातों का स्पष्ट उल्लेख है। जीवात्मा कर्म के द्वारा दूसरी योनि प्राप्त करता है। कर्मों के अनुसार फल भोगने के लिये विभिन्न लोकों में गमन करता हुआ नाना शरीरों को बार—बार धारण करता है। शरीर के धर्मों में अहंता—ममता करके तद्रूप हो जाने के कारण नाना प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म रूपों को स्वीकार करता है। परंतु जन्म लेने में यह स्वतन्त्र नहीं है, इससे संकल्प और कर्मों के अनुसार अनेक योनियों से इसका सम्बन्ध जोड़ने वाला कोई दूसरा ही है।

## जैनागमों में आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

उपनिषद् गीता आदि ग्रन्थों में क्रिया मात्र को कर्म माना गया है, किन्तु जैन दर्शन में कर्म शब्द क्रिया का वाचक नहीं है। इसके अनुसार कर्म, आत्मा पर चिपके हुये सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ का वाचक है। आत्मा की सूक्ष्म, स्थूल मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के द्वारा कर्म का आकर्षण होता है, तदनन्तर जीव और कर्म परमाणुओं का एकीभाव होता है। अन्य दर्शन जहां कर्म को संस्कार या वासना रूप मानते हैं वहां जैनागमों में कर्म को पौद्गलिक माना गया है। शरीर भी पौद्गलिक है, इसका कारण कर्म है। इसलिये कर्म भी पौद्गलिक है। पौद्गलिक कार्य का समवायिकारण पौद्गलिक होता है।<sup>1</sup> प्रश्न होता है कि जब कर्म पौद्गलिक होने के कारण मूर्त हैं तो अमूर्त आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध कैसा? इस प्रश्न के उत्तर में जैनागमों का कथन है कि जीव दो प्रकार के हैं—रूपी और अरूपी।<sup>2</sup> मुक्त जीव अरूपी हैं और संसारी जीव रूपी। कर्ममुक्त आत्मा का कर्म बंधन नहीं होता, संसारी आत्मा ही कर्मबद्ध होता है।

कर्मबद्ध आत्म कथंचित् मूर्त है। कर्म का सम्बन्ध इस कोटि की आत्माओं के साथ ही होता है। जो आत्माएं सर्वथा अमूर्त कर्म मुक्त हो जाती हैं, उनसे फिर कर्म सम्बन्ध नहीं कर पाते। अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का बन्धन नहीं हो सकता परन्तु संसारी आत्मा के एक-एक आत्मप्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म परमाणु चिपके हुए होते हैं, अतः आत्मा अमूर्त होती हुयी भी कर्मण शरीर के सम्बन्ध से मूर्तवत् होती है। जब कर्मण शरीर का नाश हो जाता है तब आत्मा अमूर्त हो जाती और तब ऐसी आत्म को कर्म भी नहीं पकड़ सकते। तात्पर्य यह है कि जब तक आत्मा में कर्मबन्ध का कारण विद्यमान है, तब तक कर्मण शरीर के द्वारा कर्मपुद्गल आत्मा के साथ सम्बन्ध कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। जैन आगमों के अनुसार आत्मा ही अपने कर्मों का कर्ता है और सुख-दुःख का भोक्ता है। परमात्मा राग-द्वेष रहित है, उसको संसार से मतलब ही क्या? वह सांसारिक राग-द्वेष से परे है। किन्तु औपनिषदिक परम्परा के अनुसार मनुष्य का कर्म करने में अधिकार है, उसके फल में नहीं। फल का विधान करना ईश्वर के अधीन है। ईश्वर ही जीव के कर्मों के अनुसार उसे फल देता है। यही दोनों परम्पराओं में अन्तर है।

### कर्म अपना फल स्वयं प्रदान करते हैं या कर्मफल ईश्वराधीन है?

कर्म अपना फल स्वयं प्रदान करते हैं या कर्मफल ईश्वराधीन है इस विषय पर जैनागमों और उपनिषदों में एकमत नहीं है। उपनिषदों के अनुसार मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, किन्तु उसका फल भोगने में स्वतन्त्र नहीं है, फल ईश्वराधीन है। ईश्वर की सर्वज्ञता और जीव के कर्माकर्मफल की नियामकता का वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद् में किया गया है। ईश्वर सम्पूर्ण जगत् की रचना करने वाला, सर्वज्ञ और स्वयं ही अपने को प्रगट करने के हेतु हैं, वे काल के भी महाकाल हैं। वे सभी गुणों के आगार और सर्वज्ञाता हैं। वे समस्त जीवों को, उनके कर्मों को और अनन्त ब्रह्माण्डों के भीतर तीनों कालों में घटित होने वाली छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी घटना को भलीभांति जानते हैं। वे प्रकृति और जीव समुदाय के स्वामी हैं तथा कर्म कारण रूप में स्थित सत्त्व रज और तम तीनों गुणों का नियन्त्रण करते हैं। वे ही जन्म-मृत्यु रूप संसार चक्र में जीवों को उनके कर्मानुसार बांधकर रखते हैं। उनका पालन-पोषण करते हैं और बंधन से जीवों को मुक्त भी करते हैं। कर्म करना जीव के अपने अधीन है, किन्तु फल प्राप्त करना जीव के अधीन नहीं है, यह ईश्वराधीन है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ईश्वर को कर्माध्यक्ष भी कहा गया है अर्थात् ईश्वर ही सबके कर्मों के अधिष्ठाता उनको कर्मानुसार फल देने वाले और समस्त प्राणियों के आश्रय हैं, तथा वे ही सबके साक्षी शुभाशुभ कर्मों को देखनेवाले, परम चेतनास्वरूप और प्रकृति के गुणों से अतीत हैं।

जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार फल भोगने के लिये विभिन्न लोकों में गमन करता हुआ अनेक शरीरों को बार-बार धारण करता है। जीवात्मा का यह आवागमन क्यों होता है? इस सम्बन्ध में उपनिषदों में कहा गया है कि जीवात्मा अपने किये हुये कर्मों के संस्कारों से मन, बुद्धि, इन्द्रिय, पंचभूत इनके समुदाय शरीर के धर्मों से युक्त होने के कारण अहंता, ममता आदि गुणों के वशीभूत होकर अनेकानेक शरीर धारण करता है, अर्थात् अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेता है। परन्तु जन्म लेने में वह स्वतन्त्र नहीं है। संकल्प और कर्मों के अनुसार अनेक योनियों से उसका सम्बन्ध जोड़ने वाला सर्वशक्तिमान् ईश्वर है। इस प्रकार उपनिषद् आदि ग्रन्थों में जीव को अल्पज्ञ और कर्मफल भोक्ता स्वीकार किया गया है और ईश्वर को कर्मफल का नियामक माना गया है।

जैनागमों की दृष्टि इससे भिन्न है। प्रो. महेन्द्रकुमार ने 'जैन दर्शन' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है—“संसारी जीव और पुद्गलों के परस्पर प्रभावित करने वाले संयोग-वियोग से इस सृष्टि का महाचक्र स्वयमेव चल रहा है। इसके लिये किसी नियन्त्रक, व्यवस्थापक सुयोजक और निर्देशक की आवश्यकता नहीं है। चेतन अधिष्ठाता के बिना भी असंख्य भौतिक परिवर्तन स्वयमेव अपनी कारण सामग्री के अनुसार होते रहते हैं। इस स्वभावतः परिणामी द्रव्यों के महासमुदाय रूप जगत् को किसी ने सर्वप्रथम किसी समय चलाया हो, ऐसे काल की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिये इस जगत् को स्वयं सिद्ध और अनादि कहा जाता है। अतः न तो इस जगत् यन्त्र को चलाने के लिये किसी चालक की आवश्यकता है और न इसके अन्तर्गत जीवों के पुण्य पाप का लेखा जोखा रखने वाले किसी महालेखक की और अच्छे बुरे कर्मों का फल देने वाले और स्वर्ग या नरक भेजने वाले किसी महाप्रभु की ही। जो व्यक्ति शराब पीयेगा उसका नशा तीव्र या मन्द रूप में व्यक्ति को अपने आप आयेगा ही। एक ईश्वर संसार के प्रत्येक अणु-परमाणु की क्रिया का संचालक बने और प्रत्येक जीव के अच्छे-बुरे कार्यों का भी स्वयं वही प्रेरक हो और फिर वही बैठकर संसारी जीवों के अच्छे बुरे कर्मों का न्याय करके उन्हें सुगति और दुर्गति में भेजे, उन्हें सुख-दुःख भोगने के लिये विवश करे, यह कैसी क्रीड़ा है? दुराचार के लिये प्रेरणा भी वही दे, और दण्ड भी वही।

यदि सचमुच कोई एक ऐसा नियन्ता है तो जगत् की विषम स्थिति के लिये मूलतः वही जवाब देय है। अतः इस भूल भूलैया के चक्र से निकलकर वस्तुस्वरूप की दृष्टि से ही जगत् का विवेचन करना होगा। यह जगत् स्वयं अपने परिणामी स्वभाव के कारण प्राप्त सामग्री के अनुसार परिवर्तमान है। जगत् तो अपनी गति से चला जा रहा है। जो करेगा, वही भरेगा। जो बोयेगा वही काटेगा। यह एक स्वाभाविक व्यवस्था है। द्रव्यों के परिणामन कहीं चेतन से प्रभावित होते हैं, कहीं अचेतन से। इसका कोई निश्चित नियम नहीं है। जब जैसी सामग्री प्रस्तुत होती है, तब वैसा परिणामन बन जाता है।

इस प्रकार एक ही प्रश्न का उत्तर जैनदर्शन और उपनिषद् दर्शन ने भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया है। उपनिषद् दर्शन में कर्म और कर्म फल के मध्य ईश्वर का विधान है, किन्तु जैन दर्शन में किसी तीसरी शक्ति की उपादेयता स्वीकार्य नहीं है। यहां मनुष्य कर्म करता है और कर्म का फल स्वयं प्राप्त करता है। उत्तराध्ययनसूत्र में आत्मकर्तृत्व का स्पष्ट निर्देश है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।

अप्पा मित्तममित्तं य, दुप्पड्डिओ सुपड्डिओ।।<sup>3</sup>

आत्मा ही कर्मों का कर्ता है, इसलिये बन्ध आत्मकृत है। आत्मा ही कर्मों का विकर्ता है, इसलिये मोक्ष भी आत्मकृत है। आत्मा का कर्तृत्व सर्व सम्मत है। यदि ईश्वर कर्तृत्व को स्वीकार किया जाय तो आत्मकर्तृत्व का हनन होता है। इसलिये जैन दर्शन के अनुसार आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्ता, भोक्ता है। आत्मा ही अपने कर्मों का बंधन करता है, आत्मा ही उन बन्धनों को तोड़ता है अतः आत्मा ही सर्वशक्तिमान् है।

### कर्म और पुनर्जन्म

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त उपनिषदों और आगमों द्वारा मान्य सिद्धान्त है। उपनिषदों में इस बात का पूरा विवरण दिया गया है कि मरने के बाद पुनर्जन्म कैसे होता है? कठोपनिषद् में कहा गया है कि अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार कितने ही जीव शरीर धारण करने के लिये किसी योनि को प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावर भाव को प्राप्त हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म और पुनर्जन्म का गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य खेती की तरह पकता है अर्थात् जीर्ण होकर मर जाता है तथा मरकर खेती के समान पुनः आविर्भूत हो जाता है। उपनिषदों में इस चक्रमण को कई उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार जोंक जब घास की लम्बी पत्ती के अन्तिम सिरे पर पहुंच जाती है तो वह सहारे के लिये कोई स्थान खोज लेता है और फिर अपने को उसकी ओर खींचती है, उसी प्रकार यह जीवात्मा इस शरीर के अन्त पर पहुंचकर सहारे के लिये कोई भी स्थान खोज लेती है और अपने को उसकी ओर खींचता है। जिस प्रकार सुनार सोने के एक टुकड़े को लेकर उसे एक नवीन रूप दे देता है उसी प्रकार यह जीवात्मा इस शरीर को छोड़ कर अज्ञान को दूर कर कोई और नवीन अधिक सुन्दर रूप धारण कर लेता है।<sup>4</sup>

ये दृष्टान्त पुनर्जन्म के सिद्धान्त के कई पहलुओं को सामने रखते हैं। आत्मा वर्तमान शरीर को छोड़ने से पहले अपने भावी शरीर को खोज लेता है। आत्मा के प्रत्येक जीवन की स्थिति उसके उससे

पहले के जीवन के ज्ञान और कर्म द्वारा प्रतिबद्ध और निर्धारित होती है। जो व्यक्ति जैसे आचरण वाला होता है, वैसा ही हो जाता है। शुभकर्म करने वाला शुभ होता है और पाप कर्मा पापी होता है। जो जैसा कर्म करता है वैसा ही फल प्राप्त करता है। अज्ञानी, अप्रबुद्ध मृत्यु के बाद असुरों के सूर्यहीन लोकों में जाते हैं। असुरों के प्रसिद्ध नाना प्रकार की योनियां एवं नरकरूप लोक हैं वे सभी अज्ञान तथा दुःख क्लेश रूप महान् अन्धकार से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्मा की हत्या करने वाले मनुष्य हैं वे मरकर उन्हीं भयंकर लोकों को प्राप्त होते हैं। छान्दोग्योपनिषद् कहती है कि मर्त्यों के लिये दो मार्ग हैं, एक प्रकाश का और दूसरा अन्धकार का, एक देवमार्ग और दूसरा पितृमार्ग।<sup>5</sup> जो तप करते हैं और श्रद्धा रखते हैं वे प्रकाश के मार्ग में प्रवेश करते हैं और मानव जीवन चक्र में पुनः नहीं लौटते। जो केवल आचारवान् हैं, लोकोपयोगी कार्य करते हैं, वे ध्रुव के मार्ग से जाते हैं और जब तक उनके नीचे आने का समय नहीं आता तब तक पितृलोक में रहते हैं। उसके बाद वे अपनी योग्यता के अनुसार पुनः जन्म लेते हैं।

मनुष्य जब तक सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता तब तक पुनर्जन्म ही उसकी नियति है। सुन्दर चरित्र वालों को सुन्दर योनी में जन्म और कुत्सित चरित्र वालों को बुरी योनि में जन्म मिलता है। इस प्रकार उपनिषदों में कर्म और पुनर्जन्म का सम्बन्ध दिखाया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन है—जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है।<sup>6</sup> गीता के अनुसार जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुये का जन्म निश्चित है। पुनर्जन्म में विश्वास उपनिषदों के काल से बराबर चला आ रहा है। वेदों और ब्राह्मणों के विचारों का यह एक स्वाभाविक विकास है और उपनिषदों में इसे स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली है।

आगमों में भी कर्म और पुनर्जन्म का वर्णन प्राप्त होता है। आचारांग आगम में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का वर्णन इस रूप में मिलता है—‘अत्थि मे आया ओववाइए, णत्थि मे आया ओववाइए, के अहं आसी? के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि?’ आत्मा का पुनर्जन्म होता है अथवा नहीं होता या मरने के बाद आत्मा यहां से कहां जाता है? यह संज्ञान सब मनुष्यों को नहीं होता। जिनका अन्तःकरण शुद्ध होता है उन्हें पूर्वजन्म की स्मृति होती है। जीव का पुनर्जन्म कैसे होता है इसका मुख्य आधार उसका पूर्वकृत कर्म है। जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्मान्तर करता है। पुनर्जन्म कर्मसंगी जीवों का होता है। अतीत कर्मों का फल हमारा वर्तमान जीवन है और वर्तमान कर्मों का फल हमारा भावी जीवन होगा। कर्म और पुनर्जन्म का अविच्छेद सम्बन्ध है।

भगवान् महावीर ने कहा—क्रोध, मान, माया और लोभ ये पुनर्जन्म के मूल को पोषण करने वाले हैं। नवजात शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं। उनका मूल कारण पूर्वजन्म की स्मृति है। जन्म लेते ही बच्चा मां का स्तनपान करने लगता है, यह पूर्वजन्म में किये हुए आहार के अभ्यास से ही होता है।<sup>7</sup> जैसे एक युवक का शरीर बालक शरीर की उत्तरवर्ती अवस्था है वैसे ही बालक का शरीर पूर्वजन्म के बाद में होने वाली अवस्था है। जीवन के प्रति मोह और मृत्यु के प्रति भय है, वह भी पूर्वबद्ध संस्कारों का परिणाम है। यदि पहले के जन्म में उसका अनुभव नहीं होता तो सद्योजात प्राणी में ऐसी वृत्तियां प्राप्त नहीं हो सकती थीं। भगवान् महावीर ने अनेक व्यक्तियों को पूर्वजन्म का स्मरण कराया। मेघकुमार मुनि प्रवज्या को छोड़ने के लिये तैयार हो गया तब भगवान् ने उसे तीसरे पूर्वजन्म की स्मृति करायी। मेघकुमार को भी ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा करते हुये शुभ परिणामों, प्रशस्त अध्यवसायों, विशुद्ध होती हुई लेश्याओं तथा तदावरणीय कर्मों का क्षयोपशम होने से जाति स्मृति ज्ञान उत्पन्न हुआ।<sup>8</sup>

विपाकसूत्र के प्रत्येक अध्ययन में पुनर्जन्म की चर्चा है। इस आगम में भगवान् महावीर स्वामी ने शुभ-अशुभ कर्मों के सुख-दुःख रूप परिणामों का दृष्टान्तपूर्वक कथन किया है। पुनर्जन्म से सम्बन्धित इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं— ‘विवागसुयस्स दो सुयक्खधा पन्ता, तं जहा—दुहविवागा सुहविवागा य।’<sup>10</sup> विपाकसूत्र के अनुसार अशुभ एवं शुभ कर्मों का परिणाम भी अशुभ एवं शुभ होता है। अशुभ प्रकृतियां पाप दुःख रूप और शुभ प्रकृतियां पुण्य सातारूप सुख प्रदान करती हैं। कर्मों के फल को भोगे बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। जो जैसा कर्म करता है उसका फल भोगने के लिये उसे बार-बार जन्म धारण करना पड़ता है। इसी सन्दर्भ में विपाकसूत्र के मृगापुत्र का दृष्टान्त द्रष्टव्य है। जो अपने अशुभ कर्मों के कारण दारुण यन्त्रणा को सहकर जीवन यापन करता है।<sup>11</sup> सुख विपाक नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सुबाहुकुमार आदि को भी दीर्घकाल तक संसार में रहना पड़ता है। किन्तु जन्म-जन्मान्तर का अधिकांश भाग स्वर्गीय

सुखों के उपभोग में अथवा सुखमय मानवभवों में ही व्यतीत होता है। गौतम स्वामी द्वारा जिज्ञासा प्रगट करने पर भगवान् महावीर ने सुबाहुकुमार के पूर्वभवों का यथातथ्य वर्णन किया। कर्म की सत्ता स्वीकार करने पर उसके फलरूप परलोक या पुनर्जन्म की सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ती है। जिन कर्मों का फल वर्तमान भव में प्राप्त नहीं होता उन कर्मों के भोग के लिए पुनर्जन्म मानना आवश्यक है। पुनर्जन्म और पूर्वभव के न मानने पर कृतकर्म का निर्हेतुक विनाश अकृत कर्म का भोग मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में कर्म व्यवस्था दूषित हो जाएगी। इन दोषों के परिहार हेतु ही कर्मवादियों ने पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार की है। इस प्रकार अनेक युक्तियां देकर उपनिषदों और आगमों में पुनर्जन्म सिद्ध किया है।

### आगमिक और औपनिषदिक कर्म की तुलना

आगमों में और उपनिषदों में वर्णित कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष में अनुचिन्तन करने पर इतना स्पष्ट रूप से दोनों दर्शनों को मान्य है कि जागतिक विभिन्नता का कारण कर्म ही है। कर्म सिद्धान्त भारतीय दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। कर्म का स्वरूप, कर्मबन्धन, कर्मविपाक, कर्म संविभाग इत्यादि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सुव्यवस्थित एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आगमों और उपनिषदों तथा तदुपजीवी ग्रन्थों में हुआ है। उपनिषदों में वैदिक परम्परा में मान्य कर्म सिद्धान्त का विवेचन किया गया है। किन्तु जैनागमों में दूसरे दर्शनों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके उनकी समालोचना करते हुए अपने मत की स्थापना की गयी है। उपनिषदों और आगमों के व्याख्याकारों और भाष्यकारों ने स्थान-स्थान पर तुलनात्मक दृष्टि अपनायी है। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर निम्नलिखित साम्य और वैषम्य दिखायी पड़ता है।

### कर्म का अर्थ सम्बन्धी साम्य और वैषम्य

वैदिक परम्परा में कर्म की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गयी है। उपनिषदों से पूर्व के ग्रन्थों में कर्म का तात्पर्य यज्ञ-यागादि नित्यनैमित्तिक क्रियाओं से माना गया है। जैन दर्शन भी कर्म के क्रियापरक अर्थ को स्वीकार करता है, किन्तु इसका क्रियापरक अर्थ यज्ञ-यागादि क्रियाओं से सम्बन्धित नहीं है। जैन दर्शन में कर्म शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त है। उसके अनुसार संसारी जीव द्वारा राग-द्वेष युक्त होकर क्रिया करने पर उसके आत्मप्रदेश में एक विशेष प्रकार का स्पन्दन होता है, फलस्वरूप वह सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं को आकर्षित करता है, ये पुद्गल परमाणु आत्मा के साथ चिपक जाते हैं और आत्मा के स्वाभाविक गुणों का घात करते हैं। जैन दर्शन में जीव के ऐसे व्यापार को कर्म कहा गया है। वैदिक परम्परा में कर्म सिद्धान्त का विकास दिखायी पड़ता है। उपनिषदों में कर्म और ज्ञान के समुच्चय पर बल दिया गया है। उपनिषदों में कर्म का अर्थ क्रिया है। यह क्रिया मन, वचन और शरीर तीनों से होती है। इस संसार में कोई भी प्राणी बिना कर्म किये एक क्षण भी नहीं रह सकता। हंसना, रोना, खाना, पीना, बैठना विचार करना आदि क्रियाएं निरन्तर इस संसार में प्राणियों द्वारा हो रही हैं। इसलिए क्रिया या कर्म वही है जो निरन्तर किया जाता है। शास्त्रविहितकर्म करते हुये मानव को दीर्घ जीवन की कामना करनी चाहिये।

गीता में भी जीव की समस्त क्रियाओं को कर्म कहा गया है। तत्त्वज्ञानी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखों को खोलता और मूदता हुआ, इन्द्रिय विषयों को भोगता हुआ वस्तुतः इनसे परे रहता है। जीव के समस्त प्रकार के कायिक, वाचिक और मानसिक संकल्प कर्म हैं। जैन दर्शन में भी जीव के मानसिक, शारीरिक एवं वाचिक क्रियाओं को कर्म कहा गया है, परन्तु मुख्य अन्तर यह है कि जैन कर्म सिद्धान्त में इन व्यापारों के मूल में जीव में प्रत्युत्पन्न होने वाले राग एवं द्वेष रूप भावों को समाविष्ट किया गया है। उपनिषदों में कर्म और ज्ञान दोनों का वर्णन किया गया है, किन्तु ज्ञान को कर्म से श्रेष्ठ माना गया है। आगमों में भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र की श्रेष्ठता सिद्ध है। उत्तराध्ययनसूत्र में राग-द्वेष को कर्म का बीज माना गया है। राग और द्वेष से बंधा हुआ जीव सकर्मा होता है। ज्ञान के द्वारा जन्म-मृत्यु के चक्र को तोड़ा जा सकता है। इस विषय पर उपनिषदों और आगमों में समानता है।

### कर्मबन्धन के स्वरूप की पारस्परिक तुलना

कर्मों से बन्धन होता है, इस तथ्य को उपनिषद् गीता, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त, जैन और बौद्ध सभी स्वीकार करते हैं। आचारांग आगम में कर्म से बन्धन का स्पष्ट उल्लेख है। आचारांगचूर्ण में कर्म से कर्म और उससे भव का बन्धन होता है अर्थात् कर्म ही भव का कारण है—

कर्मणो जायते कर्म, ततः संजायते भवः।

## भवाच्छरीरदुःखं च, ततश्चान्यतरो भवः।<sup>12</sup>

जैन दर्शन में बन्धन के पांच कारण बताये गए हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।<sup>13</sup> जैनागमों में पापकर्म और पुण्यकर्म दोनों प्रकार के कर्मों को बन्धन का कारण माना गया है। पाप और पुण्य दोनों बन्धनात्मक होने पर भी दोनों के फल में अन्धकार और प्रकाश जैसा अन्तर है।<sup>14</sup> जंजीर चाहे सोने की हो या लोहे की दोनों बांधने के काम में आती है। इसी प्रकार कर्म चाहे पुण्यकर्म हो चाहे पापकर्म हो बन्धन के कारण होते हैं। कर्म आत्मा से भिन्न है। आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। ज्ञान से कर्म भिन्न है। कर्म आत्मस्वरूप को ढककर आत्मज्योति को प्रगट नहीं होने देता। जैन दर्शन में पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्म बन्धन के कारण माने गये हैं, किन्तु उपनिषद् में पुण्य कर्म मुक्ति का और पाप कर्म बन्धन का कारण माना गया है। बन्धन के मूल कारणों के सम्बन्ध में दोनों दर्शनों में समानता दिखायी पड़ती है। जैन दर्शन में कर्मबन्धन के कारण के रूप में मिथ्यात्व का उल्लेख उपनिषदों में अविद्या और माया के रूप में हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी सत्ता के वास्तविक स्वरूप का अज्ञान कर्मबन्धन के ही कारण माना गया है।

जैन दर्शन में अविरति सम्बन्धी बन्धन कारक की तुलना गीता से की जा सकती है—दम्भ, मान और मद से युक्त मनुष्य किसी भी प्रकार पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणों को धारण करके संसार में विचरते हैं। जैन दर्शन के बन्धन कारक प्रमाद का उल्लेख उपनिषदों में भी हुआ है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है वेदों के अभ्यास, संध्यावंदन, गायत्रीजप और भगवन्नाम गुणकीर्तन आदि नित्यकर्म में कभी भी प्रमाद न करना। सत्य से प्रमाद न करना, शुभकर्मों को करने से कभी भी न चूकना। देवकार्य और पितृकार्यों के सम्पादन में भी प्रमाद नहीं करना चाहिये।<sup>15</sup> जैन दर्शन सम्मत कषाय का उल्लेख उपनिषदों में दृष्टिगत नहीं होता किन्तु उसके चार भेद क्रोध, मान, माया और लोभ का उल्लेख उपनिषदों और गीता तथा अन्यान्य ग्रन्थों में बाहुल्येन हुआ है। गीता में तो इसे आसुरी सम्पदा कहा गया है। जैन दर्शन में बन्धनकारक योग अर्थात् जीव की कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए गीता में भी कहा गया है समस्त शुभाशुभ कर्मों का बन्धन मन, वाणी और शरीर से ही होता है।

उपनिषदों और आगमों के कर्मबन्धन के स्वरूप एवं उनके कारणों के विश्लेषण से दोनों के बन्धन कारकों में काफी समानता दिखायी पड़ती है। जैन दर्शन में बन्धन के जो प्रमुख कारण बताये गये हैं उपनिषदों में भी प्रायः उन्हीं का उल्लेख है। दोनों के नामों में कुछ भिन्नता अवश्य है, किन्तु अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

### कर्मबन्धन से मुक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोणों की तुलना

बन्धन और मुक्ति सापेक्ष शब्द हैं। यदि बन्धन है तो मुक्ति भी अवश्यक है। उपनिषदों और आगमों में बन्धन और मुक्ति के विषय में काफी समानता है। उपनिषदों में कर्मबन्धन से मुक्ति के लिये ज्ञान को महत्त्वपूर्ण माना गया है। गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों का समन्वय किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जो आत्मस्वरूप को जानता है वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार कमल के पत्ते पर जल की बूंदें नहीं टिकती उसी प्रकार आत्मज्ञानी को कर्म दूषित नहीं कर सकते। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है कि जिसे परमतत्त्व का ज्ञान हो जाता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।<sup>16</sup> इस प्रकार उपनिषदों में सर्वत्र कर्म से मुक्ति के लिये ज्ञान को ही महत्त्व दिया गया है। गीता में भी कहा गया है कि सबसे अधिक पाप करने वाला व्यक्ति भी ज्ञानरूपी नौका द्वारा पाप समुद्र को पार कर लेता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनों को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्मकर देती है, क्योंकि ज्ञान के समान पवित्र करने वाला इस संसार में कुछ भी नहीं है।<sup>17</sup>

आचारांग में भी कर्म से मुक्ति के लिये ज्ञान को श्रेयष्कर माना गया है। वहां कहा गया है कि मुनि ज्ञान को प्राप्त कर कर्म शरीर को प्रकम्पित करे। आत्मदर्शी मृत्यु से मुक्त हो जाता है। जैन दर्शन से कर्म से छुटकारा पाने के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों को आवश्यक माना गया है।<sup>18</sup> उत्तराध्ययन सूत्र में इन तीनों के साथ सम्यक् तप को जोड़कर चतुर्विध मोक्ष मार्ग का विधान किया गया है। जैनागमों में ज्ञान के साथ-साथ श्रद्धा एवं आचरण को भी प्रमुखता दी गयी है। किन्तु देखा जाय तो ज्ञान में सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र अप्रत्यक्ष रूप से समाहित हैं, क्योंकि बिना

सम्यग्दर्शन के सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान के होने पर ही सम्यग्चारित्र की सम्भावना हो सकती है। इसलिये कर्मबन्धन से मुक्ति के लिये सम्यग्ज्ञान का ही अधिक महत्त्व है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आगमों और उपनिषदों दोनों में कर्मबन्धन से मुक्ति के लिये ज्ञान को ही महत्त्व दिया गया है। जैन परम्परा के ग्रन्थों में ज्ञान के साथ-साथ दर्शन और चारित्र पर भी जोर दिया गया है।

### कर्म की अवस्थाओं की तुलना

जैन परम्परा में कर्म की दस अवस्थाएं मानी गयी हैं—बंध, संक्रमण, उत्कर्षण, अपवर्तन, सत्ता, उदय, उदीरणा, उपशमन, निधत्ति, निकाचन। जैन दर्शन में वर्णित कर्म की उपर्युक्त अवस्थाएं रूपान्तर से वैदिक परम्परा में भी वर्णित हैं। इसमें कर्म की संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीन अवस्थाएँ मानी गयी हैं। संचित कर्म की तुलना जैन दर्शन की सत्ता की अवस्था से की जा सकती है। प्रारब्धकर्म तथा क्रियमाण कर्म की तुलना जैन परम्परा के क्रमशः उदय की अवस्था तथा बन्ध या कर्मास्रव की अवस्था से की जा सकती है। जैन दर्शन में वर्णित उपशमनावस्था को भी संचित कर्म के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है, क्योंकि संचित कर्मों में से बहुत से कर्मों को ज्ञान के द्वारा समाप्त भी किया जा सकता है। गीता में कहा गया है कि—ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।<sup>19</sup> जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को जलाकर समाप्त कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है।

दोनों धर्मों के ग्रन्थों की तुलनात्मक समीक्षा करने पर यह स्पष्ट होता है कि कर्म की अवस्थाओं के नामों में अन्तर है, मूलभूत स्वरूप में विशेष अन्तर नहीं है। जैन धर्म के निकाचित कर्म की तुलना प्रारब्ध कर्म से की जा सकती है। निकाचित कर्म वे कर्म हैं जिनका भोग समय से पूर्व नहीं किया जा सकता। तथा उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता। वैदिक परम्परा के प्रारब्ध कर्म की भी यही स्थिति है—पूर्वजन्मकृतं कर्म तदैवमिति कथ्यते। पूर्वजन्म के किये गये कर्म को प्रारब्ध कर्म कहते हैं। ऐसे कर्म समय आने पर ही अपना फल प्रदान करते हैं। फलभोग के द्वारा ही इस कर्म की समाप्ति होती है। कहा गया है कि 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटि शतैरपि'। कर्मों को बिना भोगे उन्हें क्षय नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जैन परम्परा के निधत्ति कर्म को उत्कट क्रियमाण में अन्तर्भाव किया जा सकता है। कर्म की जैसी-जैसी उक्तता होगी उसी प्रकार उसके फल दान की अवधि में तारतम्य होता रहेगा। अति उत्कट क्रियमाण कर्म का फल तीन वर्ष, तीन मास, तीन पक्ष और यहां तक कि तीन दिन में ही प्राप्त हो जाता है।<sup>20</sup>

निधत्ति कर्मों की समय मर्यादा और विपाक तीव्रता को कम अधिक करने की बात आती है। इस प्रकार उत्कट क्रियमाण और निधत्ति में कोई पार्थक्य नहीं है। जैन दर्शन के संक्रमण कर्म को भी प्रारब्ध कर्म में अन्तर्भूत किया जा सकता है। संक्रमण कर्म में कर्म की उत्तर प्रकृतियां अपने सजातीय प्रकृति में बदल जाती हैं, किन्तु बदलने के बावजूद फल प्रदान के लिये उसे प्रारब्ध कर्म होना तो आवश्यक ही है, क्योंकि बिना प्रारब्ध बने हुये कर्म अपना फल नहीं दे सकते। इस प्रकार संक्रमण कर्म भी प्रारब्ध कर्म की सीमा से बाहर नहीं जा सकता। सजातीय कर्म में परिवर्तन के बाद भी फल देने के लिये उसे प्रारब्ध बनना ही पड़ता है। निश्चित उदयकाल से पहले विशेष पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों को उदय में ले आना उदीरणा कहा जाता है। इस उदीरणा की तुलना वैदिक परम्परा में कर्म की उस अवस्था से की जा सकती है जहां जप, तप आदि साधनों के द्वारा संचित कर्मों को समय से पूर्व प्रारब्ध कर्म बनाकर फलोन्मुख कर दिया जाता है। जिस कर्म की जितनी स्थिति बनी हुयी है और जैसा उसका रस है उसे किसी निमित्त से बढ़ा देना उद्धर्तना है और उसे कम कर देना अपवर्तना है। ये दोनों स्थितियां वैदिक कर्म परम्परा में संचित कर्म में सम्भव हैं। संचित शुभकर्म की स्थिति को जप, तप, अनुष्ठान के द्वारा बढ़ाया जा सकता है और अशुभ कर्म स्थिति को घटाया जा सकता है।

### कर्मप्रकारों की पारस्परिक तुलना

वैदिक परम्परा में मुख्य रूप से कर्म के पुण्य-पाप अथवा शुभ-अशुभ रूप भेद किये गये हैं। शांकरभाष्य में 'पुण्यो वै शास्त्रविहितेन पुण्येन कर्मणा' शास्त्रविहित कर्म को पुण्य कर्म कहा गया है, इसके विपरीत कर्म को पाप कर्म कहा गया है। निरालम्बोपनिषद् में कर्म और अकर्म के रूप में कर्म के दो भेद किये गये हैं। जो कर्म आत्मोन्नति के लिये किया जाता है उसे कर्म कहा गया है और जो कर्म कर्तृत्वभोक्तृत्वादिअहंकारिक वृत्ति से किया जाता है जिसका प्रयोजन बन्धरूपी जन्मादि है, ऐसे नित्य-नैमित्तिक व्रतादि कर्म अकर्म हैं। गीता में भी कर्म, अकर्म और विकर्म के रूप में कर्म के तीन भेद किये गये हैं। गीता में सकामभाव से की गयी शास्त्रविहित क्रिया कर्म कहलाती है। फलासक्ति रहित

ममत्व और आसक्ति से रहित होकर किया गया कर्म अकर्म कहलाता है। शास्त्रविहित कर्म भी यदि दूसरों का अहित या दुःख पहुंचाने के भाव से किया जाय तो वह विकर्म बन जाता है। इसके अतिरिक्त नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्यकर्म, निषिद्धकर्म, प्रायश्चित्त कर्म और उपासना कर्म भी कर्म कहलाते हैं। मनुस्मृति में दस प्रकार के पापकर्मों का वर्णन है जिसका आचरण मनुष्य को नहीं करना चाहिये। वे कर्म इस प्रकार हैं—असत्य बोलना, कटु भाषण करना, झूठ बोलना, निन्दा करना, निष्प्रयोजन बातें करना, अदत्त वस्तु का ग्रहण करना, शास्त्र वर्जित हिंसा करना, पर स्त्री सेवन करना। जैन परम्परा में भी पापकर्मों का उल्लेख है जिन्हें आचरण में नहीं लाना चाहिए। ऐसे कर्म निम्न हैं— (1) प्राणातिपात (हिंसा), (2) मृषावाद (असत्यभाषण), (3) अदत्तादान, (4) मेथुन, (5) परिग्रह, (6) क्रोध, (7) मान, (8) माया, (9) लोभ, (10) राग—द्वेष, (11) क्लेश, (12) अभ्याख्यान, (13) पिशुनता, (14) परपरिवाद रति—अरति, (15) माया—मृषा और (16) मिथ्या दर्शन इत्यादि।<sup>21</sup> गीता में कर्म, अकर्म और विकर्म के रूप में कर्मों का जो विभाजन किया गया है वह विभाजन जैन दर्शन के पुण्यकर्म, ईर्यापथिककर्म और पापकर्म के रूप में किया जा सकता है।<sup>22</sup> नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित्त और उपासना कर्म की तुलना जैन धर्म के षडावश्यककर्म से की जा सकती है। इस तरह दोनों दर्शनों के कर्म प्रकार सम्बन्धी विचारों में साम्य दिखायी पड़ता है।

### कर्म—पुनर्जन्म सम्बन्धी विचारों की तुलना

भारतीय संस्कृति का आधार कर्म एवं पुनर्जन्म है। जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है उस कर्म का फल भोगने के लिये उसे अनेक जन्म ग्रहण करने पड़ते हैं, क्योंकि बिना कर्म फलभोग किये छुटकारा नहीं मिलता। यह प्रकृति का नियम है। जैनागमों और उपनिषदों के दृष्टान्तों से यह बात सिद्ध है। दोनों दर्शनों की यह मान्यता है कि यदि मनुष्य अपने कृत कर्मों का फलोपभोग वर्तमान जीवन में नहीं कर पाता है तो शेष कर्मों के फलोपभोग हेतु उसे पुनः जन्म लेना पड़ता है। जैन दर्शन की भांति उपनिषदों में भी कर्म और पुनर्जन्म का समर्थन करते हुये कहा गया है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में गमन करता है। गीता मनुस्मृति, पुराण आदि ग्रन्थों में भी कर्म और पुनर्जन्म का समर्थन किया गया है।

तिलक महोदय 'गीता रहस्य' में लिखते हैं 'कर्म चाहे भला हो या बुरा, किन्तु उसका फल भोगने के लिये मनुष्य को तैयार रहना चाहिये। गीता रहस्य में संचित, प्रारब्ध और अनारब्ध रूप भेद कर्मों के बताये गये हैं, वे कर्म पुनर्जन्म की अवधारणा के स्पष्ट परिचायक हैं। संचितकर्म पूर्व एवं वर्तमान जीवन के कर्मों का संचित पुंज है तथा उनमें पुण्य एवं पाप दोनों ही प्रकार के कर्म संनिहित हैं। पुण्य एवं पाप दो परस्पर विरोधी कर्मों के फलों का भोग एक साथ और एक समय में कदापि सम्भव नहीं। जीव एक समय में एक साथ या तो पुण्य कर्मों के फलों का भोग कर सकता है या पाप कर्मों के फलों का भोग कर सकता है। अतः कर्मों के फल को भोगने के लिये पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता ही है। इस प्रकार कर्म और पुनर्जन्म सम्बन्धी अवधारणा दोनों ग्रन्थों में समान रूप से वर्णित है।

इस प्रकार जैन और वैदिक दोनों परम्पराओं में कर्म विषयक गम्भीर और विशद चिन्तन किया गया है। कर्म की प्रकृतियां और अवस्थाएँ आदि को लेकर जैन दर्शन में जितना भेदोपभेद किया गया है उतना अन्यत्र नहीं मिलता। मूर्त्त और अमूर्त्त कर्मों की स्थिति और बन्ध ये दोनों बातें दुर्ज्ञेय हैं इसलिये गीता में कहा गया है कि 'गहना कर्मणो गतिः' कर्म को जानना और उसकी स्थिति और बन्ध ये सारी बातें मानव बुद्धिगम्य नहीं हैं। इतना अवश्य है कि जगत् का मूल कारण कर्म ही है। इस बात में जैन और वैदिक परम्परा में पूर्ण समानता है।

प्रत्येक प्राणी की उत्पत्ति, स्थिति और अवसान कर्म के आधार पर ही होता है। वास्तव में तो कर्म के शुभ और अशुभ इन दो भेदों में सारे कर्मों का अन्तर्भाव किया जा सकता है। जैन दर्शन में भी ज्ञानावरणीयादि कर्मों के आठ भेद करके चार को घाती और चार को अघाती माना गया है। ये घाती और अघाती कर्म ही शुभ और अशुभ कर्म हैं। गीता कर्मवाद का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें अनासक्त भाव से कर्म करने की प्रेरणा दी गयी है। आसक्ति बन्धन का मूल है। यही जैनागमों का भी हार्द है। इस प्रकार औपनिषदिक और जैनागमों दोनों परम्पराओं में समानरूप से कर्म की महत्ता और अनिवार्यता बतायी गयी है।



## संदर्भ सूची

1. जैनदर्शन मनन और मीमांसा—आचार्यश्री महाप्रज्ञ, पृष्ठ 277
2. अरूवी सत्ता—आचारांग भाष्य 5/6/138
3. उत्तराध्ययन 20/37
4. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/3,4
5. छान्दोग्योपनिषद् 4/15/5
6. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।  
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥  
गीता 2/22
7. आचारांगभाष्य 1/1/2
8. न्यायसूत्र 3/1/12
9. तएणं तस्स मेहस्स अणगारस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए एवमहं सोच्चा निसम्म सुभेहिं परिणमेहिं पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापूहमग्गणवेसणं करेमाणस्स सण्णिपूत्वे जाइसरणे समुप्पण्णे एयमहं सम्मं अभिसमेइ ।  
नायाधम्मकहाओ 1/190
10. विपाकसूत्र – 1/1/5
11. तस्स णं विजयस्स खत्तियस्स पुत्ते मियाए देवीए अत्तए मियापुत्ते नामं दारए होत्था । विपाकसूत्र – 1/1/8
12. आचारांगभाष्य, पृष्ठ 500 से उद्धृत
13. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्ध हेतवः । तत्त्वार्थसूत्र 8/1
14. कर्मविपाकसूत्र, युवाचार्यश्री मधुकर मुनि सुखविपाक, पृष्ठ 114
15. सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यैन प्रमदितव्यम् स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम् न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्याम् न प्रमदितव्यम् । तैत्तिरीयो 1/11
16. ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः, क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।  
श्वेताश्वतरो. 1/11
17. गीता 5/36, 37, 38
18. तत्त्वार्थसूत्र 1/1
19. गीता 4/37
20. त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः । अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते । हितोपदेश, मित्रलाभ श्लोक सं. 84
21. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग 3, पृष्ठ 182
22. जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन – डा. सागरमल जैन, पृष्ठ, 35